श्याम कश्यप

गेरू से लिखा हुआ नाम

८९१.८
श्या/गे

गेरू से लिखा हुआ नाम

(कविता संग्रह)

गेरू से लिखा हुआ नाम

श्याम कश्यप
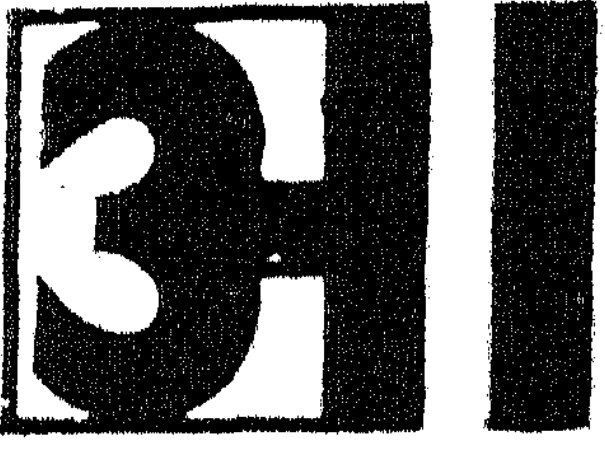
© सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रकाशक :

आकार

सी-3/13, माडल टाउन-III, दिल्ली - 110 009

प्रथम संस्करण : 1992

मूल्य : रु. 65=00 (सजिल्द)
रु. 45=00 (पेपर बैक)

मेरिट ग्रफिक्स, सी बी 230 ए, रिंग रोड, नरायना, नई दिल्ली-110028 द्वारा लेज़र कंपोजिंग, प्रोसेसिंग एवं प्रिंटिंग तथा आकार, सी-3/13, माडल टाउन-III, दिल्ली -110009 द्वारा प्रकाशित।

GERU SE LIKHA HUA NAM (POEMS)
by SHYAM KASHYAP

क्रम		पृष्ठ सख्या

क्रम पृष्ठ सख्या

अपने 'मास्टर साहब'

(श्री मोहन श्रीवास्तव)

को

सादर

सविनय

भूमिका

मेरी कविताओं का यह पहला संग्रह है। मित्रों और शुभचिंतकों के साथ एक हद तक मेरा भी यही ख़्याल है कि यह बड़ी देर से प्रकाशित हो रहा है। मेरी ओर से 'देर आयद' तो है, मगर 'दुरुस्त' का फ़ैसला तो पाठक ही करेंगे। विलंब का एक कारण यदि मेरा आलस्य और लापरवाही है, तो दूसरा कारण उस आत्मविश्वास की कमी भी है जो मुझे अपने कवि-मित्रों में भरपूर दिखता है !

वैसे भी, मैंने बहुत कम लिखा है। मेरी रचनाएँ प्रकाशित तो और भी कम हुई हैं। फिर भी, जब-जब उदार संपादकों ने उन्हें छापा, सहृदय पाठकों ने सराहा और बुजुर्ग साथी-लेखकों ने प्रोत्साहित किया, मैंने तीन-चार बार पांडुलिपि तैयार करने का जोखिम उठाया। ख़ासकर तब, जब नंदकिशोर नवल ने एकसाथ मेरी दस कविताएँ 'धरातल' में प्रकाशित कर तरुण प्रगतिशील कवियों की बहुचर्चित श्रृंखला का उनसे समापन किया था।

लेकिन उस समय भी पांडुलिपि प्रकाशक को देते-देते रह गया। एक वज़ह तो वही थी, जिसे मेरे मित्र प्रायः मेरा 'परफ़ेक्शनिस्ट मेनिया' कहते हैं और दूसरी वज़ह तब का यानी १९७९-८० का माहौल भी था जब अच्छे-बुरे ढेर सारे संग्रहों से 'बाज़ार' पट गया था। बक़ौल उस्ताद ज़ौक़ आजकल गर्चे दकन में है बड़ी कद्र-ए-सुख़न/कौन जाए ज़ौक़ पर दिल्ली की गलियाँ छोड़ कर !! यहाँ 'दकन' को बदलकर उपयुक्त शब्द रखने में पाठकों को शायद कठिनाई नहीं होगी।

संग्रह की दसेक कविताओं को छोड़ कर प्रायः सभी मेरे दिल्ली-प्रवास की हैं तक़रीबन १९७३ से लेकर १९८३ के बीच की। पाँच-छह १९६८-७२ की और लगभग

इतनी ही इधर की हैं; यानी १९९०-९१ की, जब मैंने छह-सात साल के अंतराल के बाद फिर लिखना शुरू किया है। केदारनाथ सिंह इसे 'सृजनात्मक अंतराल' कहा करते हैं। मुझे अभी इसकी सृजनशीलता साबित करनी है !

आज भी यह संग्रह यदि पाठकों के हाथ में पहुँच रहा है तो इसका सारा श्रेय गीताजी और मेरे अनेक उन आत्मीय मित्रों को है जिन्हें धन्यवाद देकर मैं उसे औपचारिक बनाना नहीं चाहता। कविताओं का चुनाव करने, उनके इस क्रम-संयोजन और पांडुलिपि पढ़कर सुझाव देने में भी अनेक बुज़ुर्ग कवि-आलोचकों ने मेरी सहायता की है। उनका नामोल्लेख करके मैं उन्हें भी दुविधा की स्थिति में नहीं डालना चाहता। उनके प्रति आभार या धन्यवाद-ज्ञापन तो मेरे प्रति उन सभी के हार्दिक स्नेह का शायद और भी अनादर-जैसा होगा।

संग्रह मैंने अपने 'मास्टर साहब' (मोहनजी) को समर्पित किया है, क्योंकि मेरी बुनियाद उन्हीं की रखी है; ज़माने की दहकती आँच में पकने से पहले गीली मिट्टी पर उंगलियाँ उन्हीं की चली हैं ! यह संग्रह देखकर शायद सबसे ज़्यादा खुशी भी उन्हीं को होगी।

१० मई, १९९१
नई दिल्ली

श्याम कश्यप

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत

ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

— निराला

हौं सब कबिन केर पछिलगा।
कछु कहि चला तबल देई डगा।।

— जायसी

।। सृजन ।।

क्या गढ़ रहे हो
ओ लुहार –

मेरे तन की
इस भट्ठी में

कच्चा लोहा ढल रहा है;

धीरे-धीरे
लहू की आँच में तपता हुआ।

इस कोख में
मिट्टी का अस्तर लगा है।

जड़ें धरती में दूर तक
धँसी हुई हैं गहरी –

अनंत-असंख्य जड़ों के साथ गुँथी हुई !!

।। शब्दों का जादू ।।

कैसा आतशी शीशा है
यह कविता –

फेंकती दिल पर
रोशनी की तीखी लकीरें।

वहाँ अब धुआँ उठ रहा है !

।। विचार ।।

दफ़ना आए थे उन्हें वे लोग
पहाड़ों के पार
गहरी कब्रों के भीतर –

लेकिन वहाँ हरी-हरी दूब उग आई है !

भीतर की नन्हीं-नन्हीं
जीवित धुकधुकियाँ

भूरी जड़ों की उँगलियाँ पकड़ कर
बाहर फूट रही हैं –

आज नहीं तो कल यहाँ फूल खिलेंगे
उड़ेगी सुगंध चारों ओर दिगंत में ।

।। सूरज, चल अब चलें ।।

सूरज, चल अब चलें
उस ओर –

जहाँ बर्फ़ पड़ रही है;

सब कुछ को
अँधेरे की परत ढँक रही है।

।। बच्चों का जनतंत्र ।।

छिंगुली पर
नाचती है
दुनिया –

आकाश
समा जाता है
जेब में
लिफ़ाफ़े की तरह।

सारे ब्रह्मांड का केंद्र
नीली-नीली
नन्हीं दो सुंदर आँखें।

तुतली जुबान
घोलती है
शहद का समुद्र।

होंठों पर
अनगिनती
इंद्रधनुष –

हर पल
हर पल
हर पल

समूचा पशु-जगत्
उतर आता है
सपना बन कर।

मनुष्यों के
पंख निकल आते हैं
उमग कर –

गाती हैं
चिड़ियाँ
लता मंगेशकर की तरह।

शेर और चूहा
समान बलशाली हैं यहाँ;
हाथी और मगरमच्छ में
वैर नहीं।

किसी भी वस्तु का
स्वामित्व
यहाँ कुछ माने नहीं रखता;
कोई अर्थ नहीं है यहाँ
मुद्रा
क़ानून
और राज-व्यवस्था का।

किसी भी
यात्रा के लिए
यहाँ न पासपोर्ट चाहिए
न वीसा
न टिकट –

दुख यहाँ
प्रवेश नहीं करते
न ही अभाव;
यह वर्जित प्रदेश है
चिंताओं के लिए।
नफ़रत का –
यहाँ कोई काम नहीं।

बच्चों का
जनतंत्र है यह
समता का राज।

ख़ामोश !
यहाँ आने की
इजाज़त नहीं तुम्हें –

युद्ध
और मौत के
ओ, वहशी सौदागर !!

।। शांति ।।

गौरैया के बच्चे
झाँक रहे हैं
चहचहाते
ध्वस्त इमारत की पीठ से।

तितलियाँ
नाच रही हैं
मगन

तोपों के बंद दहानों के
इर्दगिर्द –

ता-धिन   ता-धिन

भागते बमवर्षक के पहियों को
जकड़ लिया है
बढ़ कर
नन्हीं-सी लतर ने।

अंगारों की जगह हँसते हुए
फूल झर रहे हैं !

धरती
हाँ, धरती ने
टैंक की चैन पकड़ ली है
कस कर –

ट्रैंचों पर
छा गई है
हरी-हरी मखमली दूब।

मुर्दे आराम से
सो रहे हैं कब्रों में
चैन की नींद –

प्रेमी युगल
धरती पर लेटे हुए चित्त
दाँत में तिनका दबाए
देख रहे हैं
बादलों को गुज़रते हुए।

मेमनों के पीछे
दौड़ रहे हैं बच्चे
ढलान पर –

ख़बरदार !

ख़बरदार
पल भर भी
हिले तो –
शांति ने हमला कर दिया है !!

।। प्यार ।।

प्यार
जैसे कच्ची दीवार पर
गेरू से लिखा हुआ नाम।

प्यार
जैसे आँखें मटकाता
सफ़ेद कबूतर का जोड़ा।

प्यार
जैसे घास कुतरता हुआ
नन्हा खरगोश।

प्यार
जैसे फुदक कर
पेड़ पर चढ़ती गिलहरी।

प्यार
जैसे भविष्य से बेख़बर
बच्चे का –
नींद में हँसता हुआ चेहरा।

प्यार
जैसे कसे जाने के बाद
साज के तारों की झनकार !

प्यार
जैसे घन चलाते हाथों
और सधी साँसों की लय।

प्यार
जैसे जुलूस में जाने
और कुछ कर गुज़रने की चाह।

प्यार
जैसे रंगों मे घुलने
और फूलों में बंद होने की राह।

प्यार
जैसे सभी कुछ भीतर उँडेलता
छोटा-सा दिल –

और सारे ग्लोब पर
फैलती हुई
वसंत-जैसी मादक शांति

शांति, यानी –
मुकम्मिल सुख
समृद्धि और अमन चैन !!

।। मंजुलता ।।

मंजुलता, मंजुलता
ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर
भागो नहीं –

धीरे चलो
मंजुलता –

तुम्हारे साथ
भीतर कोई चल रहा है।

मंजुलता
मत उतरो
तेज़ी से सीढ़ियाँ –

धीमे-धीमे
कदम रखो
सँभलकर –

तुम्हारे पाँव के भीतर
कोई पाँव रख रहा है।

इस तरह
बैठ कर
मत माँजो बर्तन;

बोझा न उठाओ !

धुएँ का
लेकर बहाना
रोओ मत –

मंजुलता, जी न दुखाओ।

मत ढूँढ़ो नौकरी
अभी से
परीक्षा का फारम भरो;

मंजुलता
हिम्मत से काम लो !

मंजुलता, मंजुलता...

मत खाओ
बासी भात
सूखी रोटी का
कुछ दिन परहेज करो।

फल खाओ
सब्जी हरी
जी भरके दूध पियो।

मंजुलता
सेहत का
कुछ तो ख़्याल रखो।

मत सिलो कपड़े
रात-रात जाग कर
मंजुलता
मत फोड़ो आँखें –

कोई और आँखें भी
जागती हैं तेरे साथ।

बीते हुए
दुखों को
भूल जाओ
छूटे हुए रिश्तों को –

मन के
अँधेरों में
मत झाँको !

मंजुलता –

खेतों को देखो
देखो हरियाली;
जीवन को देखो
अर्थों को जीवन के,
जूझ कर ज़माने से
जो हमने पाए हैं...

मंजुलता
झुको नहीं –

तन जाओ
अपनी जमात बाँधो !

मंजुलता, मंजुलता...

नन्हें-नन्हें हाथों को
जल्दी से बुन डालो
सस्ते से मोजे भी, स्वेटर भी, टोपा भी।

आगे ही
मंजुलता
आगे ही जाना है –

मंजुलता, लौटो नहीं !

लो –
अनुपम उपहार
प्रकृति ने जो दिया है,

दो मेहनती हाथ
और एक सक्रिय दिमाग !!

।। मैं तुम्हें : तुम मुझे ।।

मैं तुम्हें देखता हूँ
तुम मुझे –

ऐसा हो
कि पृथ्वी थम जाए
और हम बिना रुके
एक-दूजे को देखते रह जाएँ –

इस तरह कि खुद एक नज़र बन जाएँ निस्सीम
एक-दूजे की पुतलियों में कैद...

मैं तुम्हें पुकारता हूँ
तुम मुझे –

ऐसा हो
कि सृष्टि गूँगी हो जाए
और हम बिना रुके
एक-दूजे को पुकारते चले जाएँ –

इस तरह कि खुद एक पुकार बन जाएँ अनंत
एक-दूजे के गले से लिपट...

मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ
तुम मुझे –

ऐसा हो
कि ईश्वर की मृत्यु हो जाए
और हम बिना रुके
एक-दूजे से प्यार करते रहें –

इस तरह कि खुद एक इकाई बन जाएँ अखंड
एक-दूजे की आत्मा में उतरकर...

।। सोलहवें साल में प्यार ।।

मैंने जब किसी से भी
किया नहीं था प्यार –

मैं जानता था
जानता था प्यार

वेदना प्यार की
सुख चाहने का किसी का।

एक बेहद
शर्मीला लड़का
जानता था, जानता था प्यार
जोखिम इश्क के –

आहें-उदासियाँ
भावनाएँ गहरी
उदात्त ऊँचाइयाँ प्रेम की।

(खुदा सलामत रखे
हमारे कवि-लेखकों
और गीतकारों को !)

कैसे बदल गई
अचानक
बदल कैसे गई दुनिया
हमारी –

बड़ी ख़ामोशी
और राज़दारी के साथ।

जहाँ हम मिले थे वहाँ
शब्द नहीं थे
बस, दो मासूम बच्चे
सर्दी और कोहरे में
ठिठुरते –

शब्दों के अर्थ बूझने से परे।

दो बच्चे
प्यार की गरमाहट में गुम !!

वक्त पिघल कर
बह गया था
सृष्टि के छोर तक।

धीरे-धीरे
पहले शब्द आए
फिर –
उगने लगे
हमारे बीच
उन शब्दों के नए-नए अर्थ !

देखते ही देखते
एक डरावना
जंगल खड़ा हो गया –

अपरिचित भाषा
और अजनबी इशारों के बीच

जहाँ सारी सृष्टि
पत्तों की तरह
खंड-खंड
टूट कर गिर रही थी
शब्दों की नदी में।

अर्थ उगलने वाली
डिक्शनरियाँ
मरे चमड़े की जिल्दों में बंद;
सामाजिक रिवाजों
रूढ़ियों के व्याकरण
तरह-तरह के क़ानून –

और एक समूचा पथरीला निज़ाम

अपने ज़ालिम क़िरदारों के साथ !!

।। मुबारक दिन ।।

उड़ती हुई चिड़िया से मैंने कहा
नमस्ते !

नमस्ते – मैंने हवा से कहा।

बिजली के लट्टू से मैंने कहा
स्वागत !

मैंने दरवाजे से कहा
स्वागत –

स्वागत
खुली खिड़कियो
तुम्हारा भी स्वागत !

स्वागत – मैंने बारिश की
रिमझिम से कहा।

स्वागत
तुम सबका स्वागत !
बारंबार अभिनंदन !!

मैंने
बगल में चल रहे
बूढ़े पग्गड़ से कहा – पालागी !
फटी मिरजई से पनाम् !
घिसटती –
तार-तार चीकट धोती से राम-राम !

मैंने
पास से लपकती
खसखसी दाढ़ी को सलाम किया।
हाथ हिलाया
खड़खड़ाती साइकिल को –

पल्लेदार का बोझा उठ्वाकर
मैंने धीरे से सब्जीवाली अम्मा से पूछाः
"आज आलू क्या भाव हैं ?"

मैंने ठाकुर की बखरी पर
पत्थर फेंका –
लल्ली सिंघई की हवेली पर थूका;
बद्री बनिए के गोदाम पर लात जमाई।

मुनिया की नाक पोंछ कर
मैंने स्कूल जाते बच्चे को टाफ़ी दी,
सफ़ेद कार को भद्दी गाली –

पुराने मास्साब के लिए मैं दौड़कर पान लाया।
अपने दोस्त से नज़रें झुका
मैंने कहा – धन्यवाद !
मेरे यार
तेरा बहुत-बहुत शुक्रिया !!

मुझे नहीं पता –

मुझे नहीं पता
कहाँ से शुरु हुई थी
पानी पर खिंची यह अदृश्य लकीर;

बस, हमारा प्यार था –

हमारा प्यार
और एक छोटी-सी अर्थहीन चाह
जिसने भर दी थीं सारी खाली जगहें
मामूली चीज़ों से
तमाम अँधेरे कोने।

बेमतलब शब्दों में
प्यारे-प्यारे चमकदार अर्थ,
अर्थों में –
आयताकार छंद,
छंदों में वज़नदार लय,
लय में सुरीले गीत,
गीतों में मादक संगीत।

मैंने रंगों को दिए थे
ठोस स्फटिक आकार;
गंधों को –
खुशनुमा हँसते हुए नाम।

गुज़रती हुई
वस्तुओं को पुकारते-पुकारते
खुशी की उमंग में
मैं खुद दौड़ने लगा था
तमाम-चीज़ों के आर-पार।

सड़कें
चौराहों से नहीं
हमारे –
कदमों से बँधी थीं।

भीतर कहीं
गहरे धँसी थीं
गलियाँ –
पत्थरदिल कस्बे की
घुमावदार कुलियाँ
हमें छिपाए
दुनिया की बद् नज़रों से।

जहाँ से भी गुज़रते
हाथों में हाथ लिए,
मुँह चिढ़ाती
शैतान बच्चों की टोलियाँ।

पुराने चबूतरे से टिका –
थका-सा पेड़ नीम का,
फुनगी पर अटकीं
दर्जन-भर नन्हीं गौरैयाँ –

नीले झक्क
आसमान पर
खिल-खिल हँसता
बादल का
हिलता हुआ टुकड़ा...

दरअसल
यह पहला-पहला दिन था –

पहला-पहला दिन
तुमसे परिचय
और प्रेम का –

बड़ा मामूली-सा
घटनाहीन –
लेकिन, मुबारक दिन !!

।। पत्नी ।।

अपने सपनों से बाहर
मैंने उसे
नींद की बगल में रखा।

देखते ही देखते
वह बर्फ़ हो गई –

बर्फ़ हो गई वह
मेरे रंगीन सपनों से बाहर...

अपनी उमंगों से बाहर
मैंने उसे
दहलीज की बगल में रखा।

देखते ही देखते
वह बांझ हो गई –

बांझ हो गई वह
मेरी खुशियों-उमंगों से बाहर...

अपनी मुफ़लिसी से बाहर
मैंने उसे
उम्मीदों की बगल में रखा।

देखते ही देखते
वह रेत हो गई –

रेत हो गई वह
मेरी आशाओं-उम्मीदों से बाहर...

अपनी घटनाओं से बाहर
मैंने उसे
चौके की बगल में रखा।

देखते ही देखते
वह राख हो गई –

राख हो गई वह
मेरी भावनाओं-संवेदनाओं से बाहर...

अपनी तकलीफ़ों से बाहर
मैंने उसे
किताबों की बगल में रखा।

देखते ही देखते
वह सुगंध हो गई –

सुगंध हो गई वह सुगंध
सारी गुलामी के बंधनों से बाहर !!

।। लाओ, लगाम तो चढ़ाओ ।।

खुले रह जाते हैं अनढके दुख
मछली की आँख की तरह ताकते।

रौंदते चले जाते हैं अभाव लगातार
बेकाबू घोड़ों की तरह कुचलते –

बेतहाशा क़ीमतों की हवा पर सवार।

।। बाज़ार ।।

ए लड़की –
कहाँ जा रही हो
ए घघरेवाली लड़की !

बजार
हाय, बजार जा रही हूँ मैं...

ऐ बच्चे –
क्यों भाग रहे हो
ऐ नटखट शैतान !

बजार
ओह, बजार जा रहा हूँ मैं...

ओ बाबा –
क्यों ठोकर खा रहे हो
सँभलकर, ओ बूढ़े बाबा !

बजार
उफ़, बजार जा रहा हूँ मैं...

ऐसा तो
पहले कभी नहीं,
कभी नहीं हुआ था ?
कैसी लीला है यह अपरम्पार
हो गया कैसे यह
बंटाढार –

कैसे भर गया बाज़ार
इतनी सारी इतनी सारी
इतनी सारी चीज़ों से ??

आखिर क्यों लपकने लगे
ये सब मंगते और कंगले –

दरअसल
बाज़ार नहीं
सिर्फ़ लोग ही बदल गए हैं !

लोग –
मार तमाम लोग
चीज़ों में बदलने लगे हैं
सभी लोग – !!

।। सौदागर ।।

कितना सुंदर लग रहा है
पूनम का चाँद !
चाँदनी छिटकी हुई दूधिया।

ठहरो
अरे, ठहरो –

मैं इसे
मैं इसे बोतल में भर लूँ...

सागर हँस रहा है !
फ़ेन-फ़ेन-फ़ेन
उसके जबड़ों से फ़ेन बह रहा है।

ठहरो
ओह, ठहरो –

मैं इसे
मैं इसे पोलिथीन में पैक कर लूँ...

तिरते जा रहे हैं पंख
बादलों के सतरंगी
हौले-हौले हवा पर डोलते।

ठहरो
अहा, ठहरो –

मैं वहाँ
मैं वहाँ जाल तो बिछा लूँ ......

भुखमरी और प्यास से
मर रहे हैं आलिंगनबद्ध
दो प्रेमी रेगिस्तान में।

ठहरो
हाय, ठहरो —

मैं लिख तो लूँ पहले
फड़कता हुआ
एक शोकगीत –

निकाल तो लूँ
अपना कैमरा
अपने रंग और अपना कैनवेस !!

।। धिक्कार ।।

बटेर पकड़ रहे हैं वे
जो कोसते थे –
जी-भर बहेलियों को कल तक।

चतुर चालाक हैं वे
अपने जाल लिए हुए;
कील-काँटों से लैस रहेंगे पता नहीं कब तक !

उड़ गए हैं उनके
हाथों के तोते –
जब कबूतर पकड़ लिए गए हैं रँगे हाथ।

मतलबी थे वे तो
शुरु से ही;
पता नहीं किस-किस का अब देंगे साथ !

बहुत हैं ज़माने में
ऐसे रँगे सियार,
क्या कीजे,
जब तक थे इधर लगे हमदम-हमसफ़र।

जब गए –
तो चले गए
बैरिकेड के उधर !

न हमें था गुमाँ
न उन्हें है ख़बर !!

|| शोक ||

शोक
हमें नहीं
उन्हें –

जो
लड़े भी नहीं
और हार गए !

शोक
हमें नहीं
उन्हें –

जो
हारे
और दम छोड़ भाग गए !

शोक
उनके लिए
जो आँखों के अंधे हैं अभी;

नाम नयनसुख –

शोक
उनके लिए
जो
बातबहादुर हैं सभी;

मुख केवल मुख –

शोक
उनके लिए
जो
अपने थे
कल तक !

शोक
उनके लिए
जो
गुमराह
भटक रहे हैं अब तलक !!

।। मेरा घर ।।

दोस्तो
स्वागत –

स्वागत
दुश्मनो
तुम्हारा भी स्वागत !

स्वागत
यहाँ पहुँचने वालो
तुम सबका
            स्वागत !!

यह मैं हूँ –
            यह मेरा घर।

मेरी सदी है यह –

शताब्दी की नोक पर टिका
यह कमरा
पारे की तरह थरथराता।

यह मेरा घर है
और यह मैं –

खुशी
उमंग
और जोश से भरा हुआ।

क्या हुआ ?
कमरा छोटा है अगर
छत नीची
तो क्या हुआ यारो –

बहुत बड़ा
बहुत बड़ा
बहुत बड़ा है दिल मेरा;

पंजाब से
बंगाल
मिजोरम तक फैला।

कश्मीर से
केरल तक
पसरी हैं नम हथेलियाँ
दोस्ती की।

आओ
दोस्तो
आओ
निस्संकोच चले आओ !

मेरे झगड़ालू मित्रो
ईर्ष्यालु दुश्मनो
आओ –

ख़ामोश
और बातूनी अतिथियो
आओ, तुम सब आओ –

बेहिचक
बेझिझक
चले आओ –

ग़र्द झाड़ते
सफ़र की,
पसीना सुखाते,
यात्राओं की तकलीफ़ भूल
पसर जाओ
फैलकर –

चिंता और फ़िक्र किस बात की ?

कर लेंगे गुज़र
बड़े आराम से हम
हँसी-खुशी –

राजनीतिक बहसें करते
निपटाते साहित्यिक विवाद;

कविताएँ पढ़ते
सुनते-सुनाते
एक-दूसरे की –

प्याज
चटनी
और अचार के साथ
गर्म रोटी खाते।

फ़र्श पर
बिस्तर बिछे हुए
नींद किस कमबख़्त को आती है !

दोस्तो
यों ही गुज़ार देंगे
हम सारी रात –

यहाँ धुलकर
बह जाती है
ईर्ष्या,
द्वेष
यहाँ जड़ नहीं जमाता;

बदल जाती है दुश्मनी दोस्ती में !!

मित्रो –
यों मत चढ़ाओ
अपनी आँखें –
ढीली करो अपनी कमान;

गुस्से का
यहाँ कोई काम नहीं;

मुँह बिसूरते
नकचढ़े लोग
यहाँ टिक नहीं सकते,
मक्कारी के पुतले
नफ़रत से बेतरह फुंकारते;
इन सबका –
इन सबका यहाँ क्या काम ?

यहाँ इन्सानियत की
गर्म साँस है !
हमदर्दी की लय,
सगेपन का संगीत;
जहाँ सच्ची कला आकार लेती है !!

इस वक्त जबकि पृथ्वी
अपनी कक्षा पर
साढ़े बाइस डिग्री झुकी हुई है,

मेरी पत्नी
खाना पका रही है –

और एक जिंदगी
यहाँ नई करवट ले रही है !!

।। अपनी बिटिया के लिए ।।

तुम्हारी उम्र के साथ
हरी हो रही हैं मेरी संवेदनाएँ,
फिर जी रही हैं अनोखे स्पंदन।

आगे बढ़ते, ढलते, अनगिनत आकार।

हवा मुझे छूकर फिर हो रही है
कोई रंग, कोई गंध, कोई नाद;

मैं इसे क्या नाम दूँ –

मेरी बच्ची !
मैं इसे क्या नाम दूँ ?
भाषा ??

भाषा –
मिहनत की सगी
आदिम समुदायों से चली है जो,

मैं एक अशक्त कवि इसे क्या नाम दूँ !

मेरी नन्हीं !
तुम्हारे साथ
फिर सीख रहा हूँ दोबारा
तुतलाहट –
शब्दों को गढ़ने की कला।

अर्थ-दर-अर्थ पकड़ रहा हूँ
आकृतियों की छाया
प्रागैतिहासिक कंदराओं के चित्र
अनपढ़ी लिपियाँ
अबूझ ध्वनियाँ
अनगढ़ हाथों से उपजी विजयी सम्पदा !

मेरी बिटिया !
तुम्हारी खोजी आँखों से
फिर ढूँढ रहा हूँ
ऐतिहासिक यात्राओं के तिरते मस्तूल
जंग-लगे खंजर –

ज़मीन में गड़े हुए नगर
अनोखी सभ्यताएँ
हाथी-दाँत के पहाड़
जंगल की भूरी पगडंडियाँ
काफ़िलों से कुचली हुई पत्तियों की आग।

मेरी जड़ें धँस रही हैं नीचे
और भी गहरे –
जहाँ खनिज कोलाहल द्रव
प्रवाहित हैं अनवरत...

विद्युत तरंगें
सामाजिक संबंधों की संतरें
घनीभूत परतें !!

तुम्हारे
नौ महीने के अँधेरे
और ज़िंदगी के उजालों के बीच
मर्मान्तक कौंध –

मेरी खुशबू !
मैं झेल नहीं पाया था;
अपनी समूची उदारता
उत्सुकता
और स्वागत के साथ।

तुम, जो –
अपने अस्तित्व की
समूची ताकत के साथ
हमारे बीच उगी हो,
नवजात, तुम्हें मैं क्या उपहार दूँ ?

जलते जंगल में घोंसला तलाशती
गौरैया की चुनमुन,
तुम्हारी आवाज़,
जैसे भरी बरसात में नदी का उबाल...
यमुना की उत्तुंग उछाल –

जैसे किसी प्राचीन कबीले में
ढोल की थाप...
अलाव के इर्दगिर्द थिरकते
आदिम संगीत की मादक धुन।

जैसे बर्फ़ के आग में
पिघलने का स्वर...
जैसे कश्ती पर माँझी का गीत...
जैसे गाँव की पाठशाला की घंटी !!

सख़्त काली धरती की नमी पर
तुमने जब डगमगाता पहला कदम
हौले से रखा था –

मेरी बुलबुल !
हमारी दो जोड़ी आहत आँखों में
तिर आए थे असंख्य सपने
बढ़ती कतारें   फ़हराते झंडे
और असीम सागर का निस्सीम गहरा नीलापन।

साल-दर-साल
उम्र की डोर पर खिंची
बदलती दुनिया –

और दुनिया को बदलने की
तदबीरों के साथ
ज़माने की आशंकित आपदाओं के बीच

तुम्हें क्या दूँ ?
मेरी बच्ची, तुम्हें मैं क्या दूँ –

तुम्हारी पहली वर्षगाँठ पर
तुम्हें आखिर और क्या दूँ –

मेरी मुस्तकबिल !

फ़कत अपनी दुनिया के दुख
ज़माने की मार –

नापे गए
कदम-दर-कदम
सामूहिक अनुभव...

लड़ी गई दूरियाँ
शिकस्तों के फ़ासले
निर्मम सच्चाइयाँ –

अपनी मिट्टी से मिले
तमाम इन्सानी जज्बात

और सूरज की किरणों से
होड़ लेतीं असंख्य आँखों की दीप्ति !!

।। कविता और बच्चे ।।

यह मैंने तो नहीं
कहा था –

कि कविताएँ बच्चों की टोलियाँ
बन जाएँ
और बच्चे
कविता की ऊँची-नीची पंक्तियाँ।

मैं तो सिर्फ़
कविता के गुनगुने अर्थ को
मुट्ठियों में भर कर
ठंड से ठिठुरते बच्चों तक
ले जाना चाहता था –

मैं तो बहला कर
बच्चों को कविता के बिंब से
बाहर लाना चाहता था –

क्योंकि कविता स्लेट नहीं है
और न ही पेंसिल...

कविता
न गेंद है
न नेकर-कमीज़
रंगों का डिब्बा भी नहीं है कविता।
कहीं से भी –
रोटी का टुकड़ा
या प्याज की गाँठ भी नहीं है।

कविता कुछ भी तो नहीं है
आखिर –

फिर भी
एक आदिम ज़रूरत
अपने ज़माने की सगी है
कविता –
अतीत और भविष्य की आँच में
पकती हुई...

कविता को
बच्चों के पास ले जाना
मुश्किल है
मुश्किल है
बच्चों पर कविता लिखना।

बड़ा कठिन है
कविता में –
बच्चों की मासूम हँसी उगाना !

कविता कोई खेत
खलिहान
या बगीचा भी नहीं है,
न फूलों का
रँगारंग गुलदस्ता।

सूरजमुखी का फूल भी
नहीं है कविता –
कि एकदम खिंचे चले आएँ बच्चे;

और न ही ओस में डूबी
घास पर –
चहकती हुई धूप का पहला टुकड़ा

कि बच्चे आएँ
और आकर
ज़ोर से हँसें
अपनी चप्पलें उतार–

फिर नंगे-पाँव
दौड़ लगाएँ
एक-दूसरे का हाथ पकड़कर
कविता से बाहर
छलाँग लगाएँ –

मैं चाहता हूँ कि
आज नहीं तो कल
यह तय हो –
कविता और बच्चों का रिश्ता
एकदम साफ़-साफ़ तय हो !

कविता
अगर बच्चों की बात करे
तो पहले—
अपने अर्थों
प्रतीकों
और बिंबों को साफ़ करे!

कविता
अगर बच्चों की बात करे
तो पहले –
स्लेट, पेंसिल और गेंद के साथ-साथ
नेकर-कमीज़
और भरपेट रोटी की माँग करे !!

॥ दूध - १ ॥

वह
मेरे
तपेदिक से तपते
शरीर में
चुपचाप
दाखिल होता है

धीरे
धीरे

जैसे
दुश्मन के इलाके में
बे-आवाज़
उतरते हैं
छाताधारी

धीरे
धीरे
मेरी नसों में
वह फैल जाता है
हमले की तरह
धीरे... धीरे...

आज के
मुश्किल ज़माने में
उसे पीते हुए
खून के घूँट भी
पीता हूँ मैं –

बेबसी
हताशा
लाचारी
और गुस्से से भरकर।

बेबसी
डॉक्टरों के आगे
(उनकी सलाहें बहुत हैं)

हताशा
पत्नी के सामने
(इनका शासन कड़ा है)

और बीमारी से अधिक
लाचारी से क्रोध
(इसका क़िस्सा बड़ा है)

दरअसल
मेरा –
वज़न घट रहा है;
और उसी अनुपात में
अर्थहीन गुस्सा बढ़ रहा है !

दुधमुँहे
बच्चों को भी

मयस्सर नहीं
जिस मुल्क में —

वहाँ
मैं अब
दूध पीता हूँ !

दोनों वक्त —
बिला नागा।

यह ज़रूरी है
जानता हूँ मैं।

इसे
मेरे खून के
वर्जित-प्रदेश में
हमला करना है —

किसी छापामार की तरह।

छाती में धँस कर
दूर तक
छलनी फेफड़ों के तार-तार
छेदों को भरना है !

यह अमृत है
यह गोरस है
प्राण-शक्ति है यह —
यह मेरा
बचपन से बिछुड़ा हुआ
दोस्त है !!

॥ दूध - २ ॥

जब मैं
बाड़े में था –
मुझे याद आया...

उसके थन
बर्छियों की तरह
धरती की ओर
तने हुए थे।

बछड़े को दुलारती
पनीली आँखों में
अविश्वास और नफ़रत –

आदमी
और उसके
स्वार्थ के ख़िलाफ़।

मुझे लगा
उसके सींगों की नोक पर
टिका
हुआ
है
सारा आसमान...

उनके
हिलते ही
बादल
तैर जाएँगे
और पानी बरसने लगेगा
धार-धार...

वह
हरा चारा
और
गीली भूसी खाने में
मशगूल थी
पूरी तरह से
लगातार कान हिलाती।

मैं जब
भरा हुआ लोटा लेकर चला
उसने नज़र भी नहीं उठाई
मेरी ओर –

सिर्फ़
मक्खियाँ उड़ाती
पूँछ फटकारी थी।

पता नहीं
गुस्से से–
रंज से या उपेक्षा से;
मुझे नहीं मालूम ??

घर आकर
मैंने
लोटे में देखा –

वह हरी घास
भूरे चारे
और लाल रक्त का जमाव था;
चिकनाई
और
मज्जा से भरा हुआ

अपनी शक्ल
कुछ इस क़दर बदले हुए

कि आपका
आर्यसमाजी मन
और शाकाहारी तन
दोनों –
संतुष्ट हो जाएँ

मैंने
इससे पहले
उसे कभी
इतने ग़ौर से नहीं देखा था।

इतने वर्षों बाद
आज हमारी मुलाकात
एक ज़बर्दस्त
मुठभेड़ की तरह हुई –

आमने-सामने...

तने हुए
एक-दूसरे के
पूरी तरह से ख़िलाफ़ !

मैंने
उसे देखा –

और उसने
पतीली में से उबाल खाते हुए
मुझे घूरा।

मैं उससे
और पत्नी से –
दोनों से डर गया।

मैंने गोली निगली
कैप्सूल खाया
मुँह फेर लिया फिर मैंने।

आँखें मींच
मैंने –
एक ही साँस में
गिलास खाली कर दिया।

एक अजीब उत्तेजना से
भर गया मैं
गले-गले तक –

पहले उसने
गला पकड़ा;
फिर आँतों,
अमाशय
और हड्डियों को धोते हुए
बड़ी सफ़ाई के साथ –
वह फेफड़ों के घाव में
गुम हो गया !!

गिलास रखते हुए
मैंने
चोर नज़र से
देखा –

और दहल गया देखकर
पत्नी भूखी बिटिया को
सूखी रोटी से बहला रही थी !

आँसू पी कर –

पापा को
बिटिया से
'छुटकू-सा बच्चा' कहला रही थी !!

।। गेहूँ के बारे में ।।

मेरी इससे
कोई दुश्मनी भी नहीं
दरअसल –
मुझे तो प्यार है इससे।

इसे मेरी
मुझे इसकी ज़रूरत है !

मेरा इससे
कोई पुश्तैनी झगड़ा नहीं है;
मेरे लिए
अजनबी भी नहीं है यह –

बड़ा पुराना परिचय है हमारा
शताब्दियों
या शायद लाखों बरस पुराना !

बड़ी पुरानी शै है
यह नामुराद,
बड़ी जिद्दी,
बड़ी बेग़ैरत और बड़ी बेपरवाह।

जंगली वनस्पतियों
वनैली झाड़ियों के बीच
कोई नहीं जानता –
यह कहाँ से, कैसे उग आई थी ?

यह उग आई थी
धरती की आदिम परतें फोड़
अपने ज़िरह-बख़्तर
और नुकीले भालों-बर्छियों के साथ।

खुदमुख़्तार –
किसी तानाशाह की तरह !

जंगली कबीलों
जानवरों
और काफ़िलों ने इसे
दूर-दूर तक फैलाया था।

यह खुद चाहे हिंसक न हो
पर इसने
दुनिया को बार-बार लड़ाया है।
अपने रंग को –
आग और खून में डुबोया है।

जब मेरे –
किसी पूर्वज ने
इसे पहले-पहल देखा था,
मैं नहीं जानता
तब उसे कैसा लगा था ?

उसे इसमें
भूख दिखी थी
या सौंदर्य ?
मुझे नहीं मालूम ??

समझ, दरअसल, समझ –

इतिहास और सभ्यता की समझ
इसे चरते हुए जानवर से
हाँककर यहाँ तक
खींच लाई थी –
वर्षों-शताब्दियों की धुंध के पार।

मैं नहीं जानता कि कैसे
एकाएक
मैं खेत की मेंड़ पर
पहुँच गया था –

उसी दिन
बस, उसी दिन
इसके प्रति मेरी शिकायत
दूर हो गई थी !

मैंने
इसे सूँघा
दुलार के साथ
सहलाया –
मैं दौड़ पड़ा था
इसे मुट्ठियों में भर कर...

मैंने
धरती से कहा;
पेड़-पौधों,
नदी-तालाब,
वनस्पतियों से कहा –

मैंने
पक्षियों
पशुओं
पछुआ हवाओं से कहा –

मैंने झरनों से कहा;
परबतों
मैदानों
और बादलों से कहा मैंने –

सुनो, मेरी मुट्ठियों में आग है !

देखो –
गुनगुनी
नाजुक
हरी-हरी लहकती हुई आग !!

पकने के बाद
इसकी आँच
बर्बाद कर देती है
भूख में बदल कर –
बार-बार
हमें तबाह कर देती है।

कभी मदहोश
गुनहगार
और उत्कट विद्रोही भी...

मुझे
आकर्षित करता है
इसका हरा रंग –

सुनहरी आभा,
पकने के बाद
दूधिया दाने;
बर्छियों-सी तनीं
नुकीली बालियाँ –
तीरों से भरे हुए तरकस
किसी कमान के इंतज़ार में !

लेकिन मुझे
साथ ही –
आतंकित कर देती है
इसकी कोमल गन्दुमी चमक !!

मैंने सोचा
जिन्होंने इसे रोपा था
वे हाथ
खुरदुरे रहे होंगे
पसीने की नमी से तर –

हथकड़ी
कितनी दूर रही होगी
उन हाथों
उन कलाइयों से ?

तब कहाँ रही होंगी
लोहे की ख़ौफ़नाक सलाखें ??

काटकर
पूलियाँ बनाने वाले हाथ,
मैंने सोचा –
ज़रूर मेंहदी रची होगी उनमें।

खेतों में टूटी होंगी
या हवेली के भीतर
उस हाथ की
हरे काँच की चूड़ियाँ –

किसान का
क्या रिश्ता रहा होगा
इस धानी रंग से
आख़िर क्या सरोकार ??

क्या अजीब शै है यह भी !

यह खेत में और
मंडी में और
घर के कनस्तर में
बिल्कुल और नज़र आती है !
बहरूपिया
जनम-जली –

न जाने कितनी
तकदीरों को
ख़ाक कर डालने वाली;
बेज़ुबान –

ज़मीन और सम्पदा की हेकड़ी से बँधी।

मंडी में पहाड़-सी ढेरियों के आगे
मैं डर कर बौना हो जाता हूँ।
बौरा जाता हूँ मैं –
इत्ती सारी... इत्ती सारी...

खाली बोरे लटका कर
घर लौटते किसान की
और मेरी रंगत
सहम कर –
एक-सी पीली पड़ जाती है !

थैला बढ़ाने से पहले
मैं शर्म से मुँह फेर लेता हूँ –

मैंने नहीं देखा
तराजू का पलड़ा किधर झुका था ?

तराजू तिजौरी के पास है
जबकि चंद अदद सिक्के
पसीने से भींगे –
और एक फटा थैला मेरे पास।
पलड़ा झुकाने की ताकत
न अभी मेरे पास है
न किसान के –
दोनों के बीच एक खाई नामुराद !

पिसने के बाद
इसकी गर्माहट

गोदी में सोए बच्चे-सा
सुख देती है –
सोंधी गंध का मादक नशा !

बड़ी आत्मीयता के साथ
मैं कंधे के थैले से
मुँह सटा लिया करता हूँ।

मैं भरसक कोशिश करता हूँ
भूलनें की भूलने की
चक्की की घूँ-घूँ ऽऽऽ
मुझे नहीं पता –
यह किसान की मेहनत का कचूमर है
या मेरी गृहस्थी का रुदन –
फिर भी मैं खुश-खुश
इसे घर लिए चला आता हूँ तेज़-तेज़।

बिटिया इससे चिड़िया बनाती है;
डराती है मुझे कभी
साँप और चूहे बना-बनाकर।

बड़े भोलेपन से
पूछती है फिर –
पापा
किस खेत में
उगती है रोटी ?

रोटी किस खेत में उगती है –

मुझे दिखाओ
पापा, दिखाओ मुझे
रोटी का बड़ा सारा पेड़ !

पत्नी के हाथ
बड़ी ममता के साथ
गूँधते हैं इसे –

लेकिन हर बजट के बाद
रोटी सेंकते –
वह खुद सिंकने लगती है।
भकभकिया स्टोव की
खाली टंकी हिलाती है बार-बार।

मैं खुद इससे
बेहद प्यार करता हूँ –

लेकिन इसके
फूलकर थाली में आते ही
मैं डर जाता हूँ;
ख़ौफ़ से
मेरी भूख मर जाती है;
लुप्त हो जाता है स्वाद सारा।

आँतों में ऐंठन
कसैला जायका मुँह का,
और चेतना में –
बर्फ़ीली धुंध छा जाती है।

पत्नी
खाली होते कनस्तर का
हिसाब रखती है
और मैं पकी रोटियों का।

चोर-नज़र से
देखते हैं
दोनों एक-दूसरे को –

लेकिन सारे गणित
ग़लत हो जाते हैं;
सभी समीकरण व्यर्थ !!

ग़लत, हर कहीं, ग़लत –

ठोस और सही हल के अभाव में !!

|| अकाल ||

मैंने
अँगड़ाई ली;

मेरे भीतर
एक पेड़ हिल गया
जड़ों तक –

टहनियों पर
उगे हुए शब्द
सहम कर
पीले पड़ गए।

किसी ने
देखा तो नहीं
हड़बड़ी में
पेड़ों के तनों को
कपड़े उतारते ?

ज़रूर यहाँ कोई
जड़ रही होगी
जाने की जल्दी में
पेड़ जिसे
भूल गए होंगे –

यहाँ कभी
हल चले होंगे
नमी पलटते

लोहे की फाल
टूटने से पहले !

यह सूखी लीक
यह गिरा टप्पर
यह फूटा घड़ा
यह किसान का पंजर
यह बैल की ठठरी

किसके
आख़िर किसके हिसाब में
दर्ज रहे होंगे
यह सब –

जब धरती को
आसमान खाता है,
और नदी पी कर
बादल –
लापता हो जाता है,

जब पेड़ को
पेड़ काटता है
और लोहे को लोहा –

तो आदमी को
किस आदमी ने –

किस आदमी ने चीरा होगा ?

।। हत्यारा ।।

उसे नहीं आता
बोलना
न ही गुर्राना –

फिर भी
लोगों को
साँप सूँघ जाता है !

लोगों को
इसी तरह
ख़ामोश कर देती है
सवालों से घिरी हुई
खूँखार –
पुरानी दुनिया;
किसी जवाब
किसी हल
किसी समाधान के अभाव में।

बस, एक राजदंड हिलता है
पूरी-पूरी बेरहमी के साथ –

आदिम सत्ता के
ध्वंसावशेष ढोता...

महामौन के
मंथन के बाद –
उगती है,
सिंकुड़ कर,
बस, एक ज़हरीली मुस्कान।

लाखों घर
ढह जाते हैं।
मलबा –
बस्तियों की बस्तियाँ।

टहनियों पर
सूख कर
गुलाब –
झड़ जाते हैं।

पेड़ अपनी
जगहें छोड़ –
आँकड़े हो जाते हैं
दफ़्तरों की फ़ाइल में।

अंधा अँधेरा
समा जाता है
कोख में –
भावी इतिहास की
नस कट जाती है।

जयघोष करती है
तोतों की मंडली;
शुक-सारिकाएँ
पढ़ते हैं स्वस्ति-वचन;
वेद-मंत्र –
लफंगों की टोलियाँ।

निहायत खूबसूरत
लगता है
कमसिन हत्यारे का चेहरा –

होठों के ऊपर
चिपक जाती है
आकर –
एक भयानक
काली खूनी तितली !!

।। मुर्दा आग ।।

समुद्र में नहाते हुए लोग
इंतज़ार करते हैं
किन्हीं एक जहाजों का –

दूसरे लोग
भूल जाते हैं
पहाड़ों पर चढ़ना ।

अंधी आँखों से टकराते हैं
आ-आकर
कागज के बने हुए हवाईजहाज।

पहाड़ का आधा तराशा हुआ
भुरभुरा चेहरा
बालू के टीलों में धसक जाता है

सिर्फ़ धसकने और
ईंटों के उखड़ने का शोर
पता नहीं कब –
पता नहीं कब जाकर थमेगा ?

उठती हुई दीवारों से झरते
पर्त-दर-पर्त पलस्तर
और ग़र्द के बीच,
तस्वीर के रंग पी जाता है
ख़ौफ़नाक अँधेरा –

लाल रक्त
अख़बारों की स्याही में
काला पड़ जाता है –

सहमे हुए साये
बूढ़े पुलों को पार करते हैं।
मटमैली रोशनी में
भटक जाते हैं काफ़िले !!

बहा ले जाती हैं लहरें
हर बार लेकिन –
बिखरी हुई सीपियाँ
पक्षियों के घोंसले
गुमनाम तटों पर बोयी हुई फ़सलें।

क्षितिज पर लटके नहीं दीखते
धुंध-पार खो चुके
आगत जहाजों के ऊँचे मस्तूल।

और भी ज़्यादा
कसता जा रहा है
चारों ओर –
कठोर धातु का तप्त लाल जाल !

किसी भी सुबह का उजाला
ला नहीं पाता
ऋतुओं की कोमल गंध ।

निकल नहीं पाती
हरी-हरी कोंपल,
धरती का –
चट्टानी कवच भेद कर ।

झरती पीली पत्तियों के बीच
जनमता है –
हर बार लेकिन,
अभिव्यक्ति से पूर्व ही,
अंधी कोख का गूँगा अँधेरा !!

कोई भी विकल्प
तोड़ नहीं पाता –
इस कैलिडियोस्कोप के
सतरंगी तिलिस्मी जाल को ।

इस अँधेरे की नक़ाब में
जी रहे हैं हम,
गड़े हुए –
इस दलदली मैदान में;

कालिख की
हज़ार-हज़ार परतें
अपने मासूम चेहरों पर पोत !
पता नहीं किस इंतज़ार में .....

लेकिन अभी भी
बाकी है –
कोई एक संदर्भ
दृष्टि और दृश्य के बीच

आदिम अँधेरों से
चला है जो
संगठित रोशनी का काफ़िला ।

धुंध-पार
सिग्नलों की बत्तियाँ
हिलती कन्दीलें –

आसमान में
जड़ें फेंकते
बरगदों का जुलूस !

गुज़रे ज़मानों के बाद भी
इतिहास की
घनीभूत परतों के नीचे
बहती है कल्-कल्
आग की एक नदी –

ज़िंदा हैं
अभी भी –
हमारी संकल्पधर्मा
धमनियों के खून में,
चिन्गारियाँ –
बर्फ़ीली चट्टानों-तले दबकर भी ।

इतिहास के बोझ
और मलबे में घुटकर
फ़ासिल्स –
बन नहीं सकते
जनता के तमतमाए हुए चेहरे,

अजन्मा भविष्य
और रोशनी की संगठित मशाल

रोक नहीं पाएगी
जिस्म पचाती हुई
मुट्ठी-भर –
मरघट की मुर्दा आग !

कभी तो फूटेगा
इस शमशानी अँधेरे में

गुनगुनी धूप का फूला गुब्बारा !!

।। समकालीन ।।

तुम लगातार आँखों से
थूकते रहे
अपने आपको ख़ूँख़ार
बनाने की कोशिश में
अपनी नस्ल की मर्ज़ी के ख़िलाफ़
खून की गंध सूंघते –

पैने-पंजों के बल
सरकता हुआ ज़बर्दस्त जोख़िम
तुम्हारी छाती में दूर
भीतर तक गड़ा हुआ –

सहज आत्मीयता के साथ
अंधेरा अरण्य जहाँ अपने आप
चुनता है अपने लिए
ताज़ा खूराक मशाल की !

अंधी-यात्राओं में धीरे-धीरे उतरते बैलून
नक्सलबाड़ी – एक खुला हुआ दरवाज़ा है
अपनी बात कहने के लिए ....

मगर पीठ पर खुलती हुई खिड़कियाँ
इमारत का पिछला अँधेरा हैं ;
पुश्तैनी चौखट से लगा हुआ
झुके हुए नागरिक का डरा हुआ चेहरा है ।

सिर्फ़ एक सन्नाटा
खुफ़ियागिरी कर रहा है
लबादा ओढ़ कर –
उभरती आवाज़ों और इश्तिहारों के ख़िलाफ़ ।

आँखों के भीतर खुलता अँधेरा
एक ठोस दीवार हो जाता है।
उठा हुआ हाथ
फाँसी का तख़्ता –
या एक हथकड़ी बन जाता है !

नागरिकता नज़रबंदी
की हद तक पहुँच कर
एक साफ़ षड़यंत्र बन चुकी है !!

कुलीन हलकों से जुड़े
आदमी की –
खुली हुई रग पर
भाषा के तिज़ारती इशारे हैं ।

तेईस-साल दाँतों-पकड़ी हुई
सच्चाई —
पिछवाड़े पाखाना कर रही है।
नीयत का हल्कापन – एक मादा सूअर

आसमान की ओर थूथन उठाए
खुशी-खुशी चीख रही है ....

एकाएक क्या होता है
कि छूट गए शहरों-सा
सारा विक्षोभ
कटे-हाथों के पार्सल लौटाता है।

झील जहाँ राख हो रही थी
और रेगिस्तान आग,
आँखों की पुतलियों में बंद
कोई एक सपना –
चौंक कर नींद में आता है !

सूनी कश्तियों का अक्स
इस किनारे से उस किनारे तक
लगातार सिलसिलों के
पुल बन जाता है –

मगर कोई भी ऊँचाई हो
आख़िरकार
पैराशूट की तरह कहीं से
खुल जाता है आदमी
धीरे-धीरे
पेट की ओर तनी हुई नसें
उतारती हैं नीचे –

ज्वालामुखी आईनों में आर-पार
अपनी परछाईं को तुम

तीन अलग-अलग टुकड़ों में
टूटकर बँटी हुई देख रहे हो ।

नींद में नाक
बेसुरी बज रही थी
और घुटने फैल चुके थे,
तब ऐसा कुछ नहीं हुआ था उस समय
कि एक ही बार में तिलमिला कर
वह उठ खड़ा होता अपने
नथुने फुफकारता –
कंधे हिला-हिलाकर बाजू झटकारता ।

वह गहरी नींद
सोता रहा था पूरी-पूरी संतुष्टि
के साथ डकारता ।

उसकी आदत में ख़लल
एक आम बात हो गई थी –

दरअसल
खैनी मलते हुए
लोगों की ज़बर्दस्त
हाजत के वक्त –
पिच्च-पिच्च
तुम पाठशाला थूक रहे थे
ख़ौफ़ और ख़तरों से भरी हुई।

पूरी आत्मीयता के साथ
कविता की काड़ियाँ फूँक रहे थे ;

बैतालपचीसी की सधी हुई
मुद्रा अख़्तियार किए हुए।

आकस्मिक नहीं था कि तुम
समकालीन भाषा के गहरे
खुदे हुए मोर्चों से उठकर खाली हाथ
तराईयों के जंगल में
उतर गए थे –

पिघलते इस्पात की
लाल आँच से मिलने

तुम स्वयं को रोक नहीं सके थे !!

सुदूर-पूर्व में
फूस के छप्पर और खपरैले घर
रोशनी तो देख रहे थे
मगर अभी आग नहीं –

अपनी खुद की इबारत से
डरे हुए, लेकिन
रफ़्तार के इंतज़ार में
अपने खेत –
अपना पसीना पहचान रहे थे ;
सारे आभिजात्य की सीमाओं से बाहर ।

और थके हुए
नतीजे पर पहुँच कर अंततः
तुम फिर लौट आए

पसीने और धूल में लिथड़ी
दाढ़ी के साथ;
अँधेरी सलाखों की दहशत
से भागते –
अपनी राइफ़ल से दूर ....

रात और दिन
ख़तरनाक खुफ़िया
हो गए थे –

अँधेरी खाइयाँ
जनता और जंगल
के सघन रिश्तों के बीच !!

समूचा माहौल
ग़लत हाथों की हद तक
लूट लिए जाने के साथ,
भीड़ जल्दबाजी में जकड़ी हुई छोड़कर
अब कहाँ जाओगे आख़िर
बारूद से जलता-पलीता जोड़ कर ?

नासमझ नज़रों की बहस के विरुद्ध
अपनी ज़मीन छोड़ देने के बाद
तुम किस मोर्चे से लड़ोगे ? ?

या कि फिर भाषा के लंबे
सुनसान की
किस खाई
किस ख़ंदक में पड़े-पड़े सड़ोगे – !!

।। जुबान ।।

जब झुकी हुई आँख
एक सपना
और उठी हुई आँख आग
देखती है,
तब मुझे बिम्ब नहीं
एक सीधी सड़क महसूस होती है।

शब्दों का खुला आभिजात्य
छोड़ देने के बाद –

लगभग एक पूरी भाषा को
जीने की कोशिश में
बदलते हुए मौसम के साथ मैं
पेशे की अलग-अलग
जुबान नहीं हूँ । बल्कि –

बंगाल से केरल और श्रीकाकुलम तक
लगातार एक जुता हुआ किसान हूँ।

किसी भी खतरनाक कगार पर
अपनी पहचान आप बनता हुआ ।

खेत खून माँग रहे हैं
और निगाहें पैने नाखून –
क्योंकि सत्ता के मजहब में
सारा का सारा हक
दाँतों के हिस्से में चला गया है !!

जुबान की अपनी
एक ख़ास आत्मीयता होती है;
लेकिन आपको वह
एक सिरे से उधेड़कर
रख देगी –
पूरी-पूरी बेरहमी के साथ ।

मगर आप क्यों डर रहे हैं !
यह वर्जित-क्षेत्र है,
आप इसमें घुसने की
कोशिश क्यों कर रहे हैं – !!

क्या ग़लत है कि मैं
आप से कहूँ –
आप संविद से सत्ता तक
कूड़ा हैं । कचरा हैं
कविता के भीतर अँधेरा हैं।

(शब्दों का आभिजात्य
आपके लिए
ख़ास अर्थ रखता है !!)

आप अपने आपको
लाँघ नहीं पाते हैं,

क्योंकि दूसरों के आगे
आप स्वयं एक शर्मदार-घेरा हैं ।
मतलब कि आप अभी भी
आदत और इबादत –
दोनों को ढोते चले जा रहे हैं एक साथ

नफ़रत और नाराज़गी को
एक करते लोगों से दूर ·······

जुबान जहाँ सुलग कर
टहल रही है
मार्शल-लॉ और कर्फ़्यू
के बीच;
सेंसर की सतर्कताओं
के बावजूद –

छिप-छिप कर
छापामार
गुरिल्लाओं के वेश में
बुलेट्स
लगातार फेंक रही है ·······

अँधेरों से
गायब-चेहरों की वापसी के साथ !!

अपनी सुविधाएँ खोकर
दूसरों की भूख का इलाज बनना
जिनके लिए
समझदारी नहीं है
अपने
खुद के ही

पेट के ख़िलाफ़
चलना –

वे कोई भी हों
और कहीं भी हों,
उनकी संस्कृति संघर्ष नहीं
भूख की है –

और उन्होंने अभी भी
जाहिरा नफ़रत के साथ
जीना नहीं सीखा है !!

मुझे कुछ नहीं कहना है वे सब
घुटनों के बल –
कविता में झुके हुए
अभी भी चल सकते हैं उसी तरह ;

रॉइफ़ल के मुँह तक बेशक
ला सकते हो उसे –

लेकिन कविता अगर डर या भूख
अथवा चीख नहीं है,
आप उसे ग़लत कतई नहीं कह सकते !

ज़माने के सारे अपमान खोजती हुई –

जनता जहाँ अपने
पिछले तमाम रिश्तों को लेकिन
एक-एक कर बदल रही है – !!

।। दंगे में नागरिक ।।

कल जो दंगा था
आज एक अख़बार बन गया है ;
और एक 'स्टडी रिपोर्ट' में से
गुज़र कर –

वे फिर लौट आए हैं
पत्थर की आँख के साथ।

एक बहुत बड़ा तराजू हिल रहा है
हाथ में खूनी तलवार
और दृष्टि पर काली पट्टी बाँधे हुए।

भूख के वक्त जो अकाल थे
आज सहायता शिविरों में
रोटियाँ बाँट रहे हैं –

जंगल के जख़्म का इलाज
आग नहीं पगडंडी है
मज़हब से बाहर
जहाँ अब कोई नहीं बचा है !

तटस्थता ने नहीं
असुरक्षा ने सबको
भीड़ से अलग कर दिया है।

जहाँ खाइयाँ थीं
वहाँ पुल नहीं थे –

सिर्फ़ रेत में गड़ी हुई
नागरिकता
पानी माँग रही थी।

दूसरी ओर –
ज़हरीले नारे उछालता हुजूम
नफ़रत का व्याकरण बन गया था।

बस, चंद अदद बच्चे
और कुछ अदद असबाब
सड़कों पर लुढ़क रहे थे।

एक भीड़ से दूसरी भीड़ की घृणा सहेजता –
एक काला संगठन
शताब्दी का
सबसे ख़तरनाक शब्द
बनता जा रहा है ....

और हम हैं
कि अभी भी
पानी में बुझी हुई मोमबत्ती से
परछाईं पकड़ते हुए – !!

|| सच - 1 ||

सच
सच होता है ;
चाहे कितना भी ख़तरनाक हो
हमेशा सच होता है –

दिन के उजाले की तरह
साफ़-शफ़्फ़ाक
शीशे की तरह पारदर्शी।

कितना भी अदृश्य
क्यों न हो,
चाहे कितना अगोचर,
सच ठोस
होता है –
पर्वत की तरह ठोस !

सच की अनेक परतें,
अनगिनती पहलू होते हैं सच के ।

बड़ी अजीब चीज़ होता है सच !
पानी पर खिंची लकीर

या कि पिघलते
इस्पात की धार –

ओस की
काँपती हुई
नन्हीं-सी बूँद;
या कि गरजता-उफ़नता सागर ;

पिघलती बर्फ़ का संगीत,
या कि उबलते –
ज्वालामुखी का विस्फोट !

नन्हीं बच्ची के
रुदन का कोमल छंद;
या कि फाँसी के फंदे से फूटती
भैरवी का नाद –

सच
सच होता है –

बच्चे को जन्म देती
माँ के स्तन की तरह ठोस
कोमल –
ज़िंदगी के सत्त से लबरेज़ !!

।। सच - 2 ।।

सचमुच
साहस की बात है,
हज़ार जोखिमों-भरी;

झूठ के मुख़ालिफ़
सच कहना –

फिर भी
सिर तान कर
छाती उघाड़
उसी बुलंदी से रहना ।

लेकिन –
सच कहने से पहले
जानना पड़ता है सच को ।

सच की
तमाम परतों को भेदकर
पहचानना पड़ता है –
सच के भीतर के सच को !

बहुत बार
सच लगकर भी सच
सच नहीं होता –
अपने तमाम पहलुओं की
सारी सच्चाई के बावजूद !

न सही
न सही झूठ
फिर भी –
सच सच नहीं होता !!

कैसा जानलेवा दौर है भयावह –

सच को
छिपाया जा रहा हो जब
हर पल
हर कहीं –

ख़ौफ़नाक काम है
बग़ावत,
झूठ की सत्ता के सामने
सरकशी,
सच्चाई तलाशना –
चतुर चौकन्नेपन के बीच।

बड़ा मुश्किल
अंजाम है,
बड़ा कठिन
पाना सच को –

सामने लाना,
विवेक
और मन की
पैनी धार पर कस कर,
सच को –
सच की तरह आज़माना ।

सचमुच
हिम्मत की बात है
खुद को –
दाँव पर लगाना,
झूठ के मुख़ालिफ़ सच कहना !!

लेकिन
काफ़ी नहीं है,
बढ़कर
सच्चाई का पक्ष लेना ;

काफ़ी नहीं है
सिर्फ़
अँधेरे को अँधेरा
और झूठ को झूठ कहना –

काफ़ी नहीं है
सच को
सच की मानिंद सच कहना
काफ़ी नहीं है –

दरअसल –
सच की सार्थकता

उसे ठीक-ठीक जानने
फिर जूझने वालों के बीच
उसे फैलाने में है !!

सच्चाई के पक्ष में
लोगों को –
संगठित कर
एकजुट लोहा लेने में है !!

।। सार्थकता ।।

पेड़ हो तुम पेड़
मैंने कहा
पेड़ की तरह हरी,

फलदार
और थके डैनों को विश्राम देने वाली ।

नदी हो तुम नद्दी
मैंने कहा
नदी की तरह गहरी,

शीतल
और भूखंडों को जोड़ने वाली ।

आग हो तुम आग
मैंने कहा
आग की तरह लाल,

आदिम
और जला कर ख़ाक कर देने वाली ।

हवा हो तुम हवा
मैंने कहा
हवा की तरह व्यापक,

क्षिप्र
और कभी भी न रुकने वाली।

पेड़
नदी
आग
और हवा
ये सब मिलकर

सोचो तो –
क्या नहीं कर सकते ?

कद्दावर
जंगल हो रहे हैं
सब पेड़
मिलकर
छापामार जंगल !

विराट
समुद्र बन रही हैं
सब नदियाँ
मिलकर
उफ़नता सागर !

लपटें फैल रही हैं
सबकी मशाल
मिलकर
बाग़ी विस्फोट !

आँधियाँ चल रही हैं
तेज़ हवाएँ
मिलकर
गुर्राता अंधड !

इन सबकी
सार्थकता
आखिर –

मिलकर लड़ने में ही तो है !!

।। यह मैं नहीं लिख रहा ।।

किसके हाथ हैं ये
किसके हाथ –

तोप में गोला भरते
निशाना लेते
झँडों की तरह तने जहाजी हाथ ।

अख़वारों की
सतरों की सतरें रँगते
कंपोजिंग करते
मशीनों से जूझते –

पैम्फलेटों
पोस्टरों से लदे तूफ़ानी हाथ।

हमारे हाथ हैं ये हमारे हाथ ...... हमारे हाथ ......

किसकी आवाज़ है यह
किसकी पुकार –

अँधेरी कोठरी में
लौ जगाती
मिल के सायरन की तरह तेज़ ।

बाघ-जैसे हिंस्र
माँ की तरह
कोमल –

किसकी आवाज़ है यह किसकी पुकार ......

फैलती जाने वाली
धूप की तरह;
हरियाली-जैसी
छा जाने वाली पुकार –

हमारे नारे हैं ये हमारे नारे ...... हमारे नारे ......

यह मैं नहीं लिख रहा –

मेरा दौर है
गतिशील
खुली आँखों वाला समय !

यह मैं नहीं बोला –

मेरी धरती है;
पीठ पर
युद्धों और विजय-स्तंभों का
बोझ लिए –

मेरी धरती है यह –

गड़गड़ाती
धराशायी करती
करवट पर करवट बदलती;
बेचैन धरती !!

मेरी मुट्ठी नहीं है यह –

समूचा वर्ग है
हमारा
सचेतन
कदम-दर-कदम बढ़ता हुआ।

|| मेहनतकशों का कोरस ||

बिजलियाँ भरी हैं इनमें

कड़कती बिजलियाँ

ये हमारे हाथ ......

अनंत गतियाँ प्रवाहित हैं इनमें

तीव्रतम गतियाँ

ये हमारे पाँव ......

मशालें जलती हैं इनमें

रेडियम की लौ

ये हमारी आँखें ......

हमारे हाथ

हमारे पाँव

हमारी आँखें —

बिजली को गति में

गति को रोशनी में

बदल रहे हैं —

मस्तिष्क के परमाणुओं को

तेजस्क्रिय रश्मियों में !!

हम रोशनी की नदी हैं

प्रकाश के प्रपात —

जहाँ अँधेरे कगार घुल रहे हैं ......

कितने कल-कारख़ाने
इमारतें —
ट्रैक्टर बन रहे हैं !

अगर हमारे हाथ
रुक जाएँ सहसा —
पाँव थम जाएँ,
आँखें फेर लें हम —
तो बताओ
किस अजायबघर में
चली जाएगी
तुम्हारी दुनिया ??

हमें आँखें मत दिखाओ
गुर्राओ-धमकाओ नहीं —

मोटे सूअर !
अपनी घड़ी की ओर देखो
ज़माना क्या बजा है !!

।। संकल्प ।।

हम पैदा हुए थे,
मौसम की
उदास रातों के साथ;

दिन की बीहड़ थकान के साथ,
पैदा हुए थे हम —

बड़े हुए थे हम,
पिरामिडों-मीनारों,
शहरी अट्टालिकाओं के साथ;

कारखा़नों की चिमनियों के साथ,
हम बड़े हुए थे —

हम तबाह हुए थे,
हंटरों की बारिश,
सर्दी-लू के थपेड़ों के साथ;

तपेदिक की भीषण मारों के साथ,
तबाह हुए थे हम —

जमा हुए थे हम,
एकजुट —
फ़रहरों और बँधी मुट्ठियों के साथ;

चक्का-जाम की ताकत के साथ,
हम उठ खड़े हुए थे ......

अब हमने सब
साफ़-साफ़ समझ लिया है —

रात की रोशनाई में लिखी
हमने पढ़ ली है —
सितारों की गुपचुप इबारत;

खुल गई है सूरज की किताब ।

हमने समझ लिया है,
जान लिया है हमने —

पूँजी,
मुनाफ़े
और श्रम-घंटों की
चोरी का मकसद;
समझ लिया है —

हमने ग़लत गणित का
उल्टा समीकरण पकड़ लिया है !!

इसीलिए, अब हम एकजुट लड़ रहे हैं —

हम लड़ रहे हैं
गर्दन में पड़े तौक़ से हर कहीं

खून चूसती जोंकों से हर दम
हम लड़ते रहेंगे ......

हम लड़ रहे हैं
पैरों-पड़ी जंजीर से हर कहीं

आँखों-बँधी पट्टी से हर दम
हम लड़ते रहेंगे ......

हम लड़ रहे हैं
मौसम की उदास रातों से हर कहीं

दिन की बीहड़ थकान से हर दम
हम लड़ते रहेंगे ......

हम लड़ रहे हैं, साथी —
जंग' ओ जुल्मो-सितम से हर कहीं;

आज़ादी, अमन और अपनी धरती की ख़ातिर
हम लड़ते रहेंगे, साथी, लड़ते रहेंगे ......

।। शोकगीत ।।

मैं लिखना चाहता हूँ
एक शोकगीत –

ऐसा शोकगीत
जिसमें
कोई शोक न हो !

सीधा-सादा
मगर असरदार
एक सच्चा शोकगीत !

ऐसा शोकगीत
जिसमें आहें
कराहें न हों,
कोई उदासी
रंजो-ग़म कोई हताशा न हो ।

ऐसा —
हाँ, बिल्कुल ऐसा
शोक से रहित शोकगीत !!

शोकगीत

अपने उन तमाम
दोस्तों और साथियों के लिए
शोकगीत —

जो लड़े जी-जान से
और हार गए —

जिनके सिर उठे
और उठते चले गए ......

उट्ठे सिर जिनके
कि आसमान की बलंदियों में खो गए !

बँधीं मुट्ठियाँ
कि बँधती चली गईं ......

जिनकी मुट्ठियाँ तनीं
तो टकराकर चूर हो गईं चट्टानें !

वे आगे बढ़े
कि हिलकर
सरकने लगे परबत पीछे —

आँखें खुलीं
उठीं ऊपर

कि जल उठीं
दिपू-से मशालें अनगिनती !

रोपे पैर उन्होंने
बढ़ कर
तो हिल उठी धरती —

उट्ठे कदम
मिल कर
कि ज़िंदगी की राह फूटी !

लड़े जी-जान से जम कर;
लड़ाई हार गए —

मैं लिखना चाहता हूँ
शोकगीत
जिसमें कोई शोक न हो ......

हम लड़े और हार गए आख़िर !!
हार कोई
अंत नहीं है मगर,
क्योंकि जारी है जंग
अभी भी —

अभी तो
सफ़ों में हरकत है,
है निशान ऊँचा,
फरहरे झुके तो नहीं;

कतारें बढ़ रही हैं आगे
अभी तो —

अभी तो
सूरज में रोशनी
और धूप में गरमी है
अभी तो —

हज़ार हारों के बाद भी
उम्मीद
बाक़ी है
अभी तो —

अभी तो
विश्वास बाक़ी है,
खुली आँखों का सपना
बाक़ी है
अभी तो —

अभी तो
मेरी आवाज़,
मेरा गीत बाक़ी है
अभी तो —

दरअसल,
गीत नहीं, यह तो
धरती की कोख में
सदियों से बंद आग है कोई ......

तूफ़ानी हवाओं की
लय पर थिरकती
लपटों का आदिम राग है कोई ......

गरज़ते समंदर की
लहरों पर गूँजता
कविता का पुरातन छंद है कोई ....

हवा
पानी
और आग के
इस खेल में
इतिहास का
जैसे नाज़ुक राज़ है कोई ....

कि सबके दिलों में
मचलने दो
इकसाथ इसे —

शोकगीत
जिसमें कोई शोक नहीं है !!

।। कभी तो ।।

कहाँ हैं
आख़िर
कहाँ हैं हम यहाँ —

जहाँ धँस रही है
छाती में
उल्टे पिरामिड की नोक ।

इतिहास का पहिया
उल्टा घूम रहा है !

भविष्य में छलाँग लगाता हुआ
अंधकार —

या कि
अंधकार के गर्त में
डूबती मशाल —

किस सरलरेखा से
शुरू हुई थी यह यात्रा ?

किस पेचीदा
तिलिस्म को तोड़ने
बढ़ रहे हैं ये पाँव —

दृष्टि जैसे
काँपती हुई लय की सीमा में
बँधा हुआ सरगम —

जैसे बर्फ़ की गहराइयों के नीचे
बेआवाज़ गुज़रती पहाड़ी नदी,

कहीं तो
कहीं तो फूटेगी बाहर
लाखों-करोड़ों धाराओं से मिलकर
बनेगी प्रपात —

गूँजेगी भैरवी
आकाश की लालिमा में घुलकर
कभी तो ...... कभी तो ......

।। लोग, मेरे लोग ।।

टीसती
फटी बिवाईयों-से
बँटे हुए लोगो —

मैं तुम्हारे
जख़्मों को
चूमना चाहता हूँ !

अब कोई इलाज
मेरे पास नहीं है ।

फिर भी
लहूलुहान हाथों से
मैं तुम्हारी बाड़ों-हदबंदियों को
तोड़ना —

अपने जिस्म से
तुम्हारी खाइयों को
खंदकों को
पाटना चाहता हूँ कूदकर ।

लोगो
मैं तुम्हारे बीच
पुल-जैसा
बिछ जाना चाहता हूँ !

लोगो, मेरे लोगो !

मेरे अपने
प्यारे-प्यारे
जाँबाज लोगो !!

।। यह वो पंजाब नहीं ।।

अब यह वो पंजाब नहीं है !
अब यह वो पंजाब नहीं है !!
चौड़ी छाती, चकले चेहरे ।
ज़ख्म लगे हैं गहरे-गहरे !
आग लगी है, बैठे पहरे ।
चीख उठी, पर कान हैं बहरे ।
दरिया खूनी, खूनी नहरें;
फ़सल उग रही भरकर ज़हरें !
सरहद पार सिपाही बैठे,
तानाशाही मूँछ उमेठे।
अमरीकी यह चाल वही है !
चाल वही है ! चाल वही है !!
अब यह वो पंजाब नहीं है !
कहीं नहीं है ! कहीं नहीं है !!

।। आतंक ।।

अपनी पहचान के चिह्न
छिपा रहे हैं लोग
घबरा कर —
एक-दूसरे से बचते हुए ।

दहशत के परिन्दे
उनकी पुतलियों में उतर आए हैं !

अँधेरे से डरने लगे हैं लोग ।
कहीं से भी निकल आएँगे अचानक
पेशेवर हत्यारों के झुंड —

और भी आशंकित करती है रोशनी
कि पता नहीं कब वार कर बैठे अपनी ही परछाईं ।

कोई मतलब नहीं रह जाता अब चिट्ठियों का
शहरों के नाम बदल चुके हैं
समूची आबादी और रिश्तों के साथ —

पतों में लिखे नाम लापता हो जाते हैं
अपने समूचे अस्तित्व और शख़्सियत के साथ !!

।। शाप ।।

ओ मेरे घर
तू मिट जा,

बेजुबान हो जा
ओ नासपीटे –

नींव
धँस जा तू कहीं;

आँखों से ओझल
हो जाओ दीवारो।

छत
जा उड़ जा
जहाँ जी चाहे !

यह कैसे ज़माने में
जी रहे हैं हम –

कदम बाहर रखते ही
दरवाजा चीखता है ज़ोर से;
पल्ले फड़फड़ाते हैं
सहम कर खिड़की के।

छत पूछती है
झुक कर
कब लौटोगे ??
लौटोगे तो –

यह कैसे जंगल में
रह रहे हैं हम !!
कैसे जंगल में –

कि बियाबान में
हर झाड़ी आदमख़ोर है;
रक्त की प्यासी
लपलपाती टहनियाँ।

सारी पगडंडियाँ जाती हैं
वधस्थल की ओर;
हर मोड़ पर
वहशी हत्यारों के झुंड
आग उगलते हुए –

यह कैसी
ज़हरीली फ़सल उग आई है ?
यह कैसी ...

नफ़रत की आँधी –
दिल-दरिया, दरियाओं को पाटती !

अब न उट्ठे
इन कब्रों में से वारिश शाह
कोई हीर सलेटी...

अब न उड़ें शमले-तुर्रे
बैसाखी वाले
गीत लोहड़ी के खो जाएँ...

गीतों की पींग न झूले
कभी जवानी
दुत्कार कर छोड़ दें प्रेमिकाएँ सारी...

छाती में सूख जाए दूध
कलपते
दुधमुँहे तड़पें –

मौत आ जाए
माँओं को
उनके बच्चे लोरियों को तरसें...

झड़ जाए जुबान
सूख कर
भूल जाएँ माँ-बोली लोग...

कोई शाप
कोसना कोई
बचे न बाकी –

कोई बद्दुआ रहे न शेष !

अब कोई
किसी का नहीं;
बिना देश –
सब बिना क़ौम के;

बाकी रहे न
कोई निशाँ –

धरती का;

और धरती से
सदा-सदा के लिए
मिट जाए नाम हमारा !!

नामो-निशाँ हमारा !!

॥ तेरे सदके ॥

कैसी क़ौम है
यह नामुराद –

सदियों ख़ून से
सींचा गया शीशम !

कैसी धरती
कैसे लोग
बँटते हैं बार-बार जो,
अपने रिश्तों –
और काफ़िलों के साथ;

फिर भी
न खुद अलग होते हैं,
न उनकी धरती –

न भाषा
न गीत
न सपने
न लोरियों के बोल !!

कैसे हैं लोग ये
बेपरवाह –

चल देते हैं कहीं भी
किसी भी वक्त
जड़ें अपनी मिट्टी में रोप।

कैसी है क़ौम यह
जो मिटती है बेपनाह –

लेकिन फिर भी
उठ खड़ी होती है
तन कर –

नाचती
टप्पों की धुन पर...

भंगड़े की
ताल पर,
लोकगीतों की लय पर
झूमती....

यह कैसी क़ौम है
खुद्दार,
इसके सदके –

सदके
इसके गीत,
इसके प्यार के सदके !

सदके –
इसके पीर,
इसके संतों के सदके !

इसके सूफ़ियों,
मलंगों –
और मस्त कलंदरों के सदके !

सदके बाबा फ़रीद !

मेरे नानक,
मेरे गोविंद,
मेरे कबीर के सदके !!

सदके मेरे सतलज,
मेरी झेलम,
मेरी रावी तेरे सदके !

सरहदों को तोड़ दें,
उन हवाओं, उन मौसमों के सदके !

उन तरानों,
उन ग़ज़लों,
उन साज़ों के सदके –

जो कभी न मिट सकी
दिल की उस आवाज़ के सदके !!

सदके ! सदके !!

।। विदा ।।

चल देंगे हम यों ही .....

पैरों में जूती तिल्लेदार
लट्ठे का तहमत, साफ़ा सिर पर, गुट्ठल हाथ।
सिर पर उठाए आसमान
चल देंगे –

हम यों ही चल देंगें कहीं भी
रिजक जहाँ ले जाए, जहाँ दाना-पानी।

बाँसों के जंगल हों विंध्याचल के पार
कोयले-अबरक की खानें या तराई के मैदान
असम के बागान हों या धुर दक्षिण के पठार
हमारे पैरों से फूटते हैं राजमार्ग –

खाड़ी देश के रेगिस्तान हों
या कनाडा के बर्फ़ीले विस्तार
अथवा हों जर्मनी के नगर
हम जहाँ भी रुकेंगे पल-भर –
वहीं बसा लेंगे पंजाब, वही धरती अपनी !
लस्सी का गिलास और साग, रोटी मक्के की !!

तुम जहाँ भी जाओगे
दुनिया के किसी भी चौराहे पर
हम तुम्हें मिलेंगे, वहीं –

अपनी धरती, अपने लोग .....

।। फ़िलिस्तीन ।।

कौन हो तुम ?

फ़िलिस्तीन।

कहाँ से आ रहे हो,
जाओगे कहाँ ?

फ़िलिस्तीन... फ़िलिस्तीन...

क्या कह रहे हो ?
महज़ फ़िलिस्तीन –
फ़क्त फ़िलिस्तीन !

कहाँ है ?
कहाँ है यह फ़िलिस्तीन ??

दुनिया के किसी भी नक्शे में
कहीं नहीं है ?
किसी को भी
कहीं नहीं दिखता फ़िलिस्तीन –

हमारी प्रार्थनाओं
बुदबुदाते होठों
हमारे गीतों में है फ़िलिस्तीन !

फ़ातिहा में उठे हाथों
नवजात बच्ची के रुदन
प्रेमियों की किलकारी में है
मक़तल में है
मक़तब में है
है माँ की पहली लोरी में
फ़िलिस्तीन... फ़िलिस्तीन...

बेरूत की सड़क हो गुलज़ार
या काहिरा की गंदी गली
या हो मेडिटेरियन का खुशनुमा तट
अथवा जोर्डन के तपते रेगिस्तान
या फिर न्यूयार्क की सड़कों पर
जुझारू नौजवानों का
जंगी प्रदर्शन –

जहाँ भी हमारे कदम पड़ें
बस, वहीं –
ठीक वहीं तो है
वहीं तो है फ़िलिस्तीन !!

शरणार्थी शिविरों से लेकर
छापामार दस्तों तक
खून का हर क़तरा
हरेक साँस है फ़िलिस्तीन !

हमारी हर धड़कन
प्रत्येक गतिविधि
हर जुम्बिश है फ़िलिस्तीन !

फ़िलिस्तीन से शुरू होती है
हमारी ज़िंदगी
जहाँ भी ख़त्म होगी, वहीं –

बस, वहीं –
हाँ, वहीं तो है, फ़िलिस्तीन !

फ़िलिस्तीन ! फ़िलिस्तीन !!

।। अफ़्रीका ।।

अफ़्रीका..अफ़्रीका...

नीले समुद्र में तनी विशाल
मुट्ठी-जैसे महाद्वीप... अफ़्रीका...

अतलांतक और हिंद महासागर
के बीच –
दिन के उजले फलक पर तुम
किसी मासूम
बचपन की शरारत हो।

सभ्यता की नदी में गिरकर
घुलती काली परछाई –
ओ, अफ़्रीका !

मेरी कविता के
बेचैन वर्कों पर,
किसी आबनूसी कलाकृति की तरह
अफ़्रीका, तुम –
लंबे अर्से से उभर रहे हो।

अफ़्रीका!
मेरे बचपन के डर,
प्रबल आकर्षण
मेरे कैशोर्य के –

मैं तुम्हें आज
नए सिरे से जानने की,
समझने की,
संजीदा कोशिश कर रहा हूँ।

अफ़्रीका!
मुझे अब
सपने में कभी
दरियाई घोड़े नहीं दिखते;
मैं अब टार्जन
'एप बंदरों'
और गुप्त खजाने के
क़िस्से नहीं पढ़ता –

अफ़्रीका..अफ़्रीका...

अपने भीतर मैंने तुम्हें
परत-दर-परत
नए सिरे से खोला है।

अफ़्रीका, मैंने तुम्हें खोजा है –

मायकोवस्की और नेटो के काव्य में,
धधकते ज्वालामुखी के मुहाने के पास।

अफ़्रीका,
मेरे बंधु, मेरे साथी !

मुझे अफ़सोस है,
मेरे महाद्वीप,
मुझे बेहद-बेहद अफ़सोस है –

सेंघोर के प्रसिद्ध गीत में
मैं तुम्हें नहीं पकड़ सका;

लेकिन –
मुझे खुशी है कि
अंगोला, मोजांबिक, नमीबिया में,
इथियोपिया, अल्जीरिया और
दक्षिण अफ़्रीका में – हर कहीं –

यानी कि शोषण, दमन
और रंगभेदवाद के ख़िलाफ़,
तुम्हें मैंने –
मुक्तियोद्धाओं की
छापामार टुकड़ियों के बीच
धड़कते हुए पाया है।

अफ़्रीका!
तुम्हें मैंने क्यूबा के
कास्त्रो की धमनियों में
गरजते हुए पाया है।
मैंने पटने में –
लुआंडा की मारिया से हाथ मिलाया है।

मैंने तुम्हें कांगो,
सोमालिया, तंजानिया
और नाइजर के क्रांतिकारी
जनगणों के
माध्यम से जाना है –

अफ़्रीका..अफ़्रीका...

मेरी हार्दिक इच्छा है –
अफ़्रीका,
मेरे महाद्वीप,
मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं तुम्हें
तुम्हारी महानदियों,
घने जंगलों,
खनिजों –
और अजनबी भाषा के
चिरपरिचित गीतों के माध्यम से जानूँ;
उठते कारख़ानों और गहरी ख़ानों में झाँकूँ।

मैं तुम्हारे फूल,
तुम्हारी वनस्पतियों,
तुम्हारी नदियों,
अफ़्रीका, मैं तुम्हारे लोगों को
करीब से –
बहुत करीब से देखना चाहता हूँ।

मैं आऊँगा... अफ़्रीका...
मुझे विश्वास है कि
एक दिन मैं ज़रूर आऊँगा –

मुझे यह भी विश्वास है
कि तब तक –
एक नया अफ़्रीका
(जो अँधेरी दुनिया की
हरी कोख चीरकर
एक रौशन मशाल की तरह
जन्म ले रहा है!)
कई कदम चल चुका होगा...

यहाँ –

एशिया के अपने देश
हिन्दुस्तान से

मैं वह दिन बहुत नज़दीक
बड़ा साफ़-साफ़ देख रहा हूँ !!

|| धरती का गीत ||

(जन्मदिन पर शमशेरजी को समर्पित)

आ
गले
लग जा
ओ धरती

अपनी
कक्षा पर नाचते
ओ
मेरे प्यार !

गर्दन के गिर्द
लिपट जाओ
ओ
झरनो –

मेरी
साँस
रुक जाए !

मुझे
भींच लो
कस कर
ओ
प्रपात

मुझे मार डालो –

मैं
तुम पर
मर मिटा हूँ
ओ
नज़्ज़ारो !

मुझे
अपने
आगोश में ले लो
ओ
घास के मैदान।

मेरे
बचपन की ओर
भागते
नंगे पैर
ओ, दृश्य –

थमो
ओ, दौड़ती नदियो
थमो –

हाँ, यहीं
बिल्कुल यहीं
घाटियों
के बीच –

चादर की तरह
तुम्हें
मैं ओढ़ लूँ
तान कर !

तुम्हारी
पारदर्शी
अँधेरी तलहटी में
सो रहूँ
मैं
डूब कर
ओ, महासागर।

मुझे
पुकार लो,
थाम लो
बढ़ कर –
ओ
समुद्र !

आ
निगल
ओ, आसमान –

पी
मुझे –

पानी की
तरह से
सोख !

बरस जा
ओ
बादलों की पाँत –

तेरे साथ
गिरना चाहता हूँ मैं
कड़ी
ठोस
काली पृथ्वी की
पीठ पर।

मैं
तुम्हारी
जड़ों में
छिप जाना चाहता हूँ

ओ
वनस्पतियो !

मुझे
खींच लो
ओ, जड़ –

भूरे तने
शाखो
ओ, हरी पत्ती

खींच लो
मेरा नमक;
सारा
का सारा
सत्त्व –

खनिज
बन कर
घुल रहा हूँ मैं !

आ निकल आ
ओ
आग

बाहर –

फूट
पत्थरों में बंद
ओ
अंगार...

टूट
बिजलियाँ
बन कर –

मेरे
ओ
विश्वास !

मिल
आगत से
मेरे इतिहास
मिल

सारी
सरहदों को
तोड़
ओ, विस्तार –

पूरब

पच्छिम

उत्तर-दक्खिन...

सबको –
एक रिश्ते
एक दिल से जोड़ !!